



समलैंगिकता एवं धारा 377: एक विश्लेषण

सुरभि गोस्वामी ^{1*}, डॉ. रुचि ²

1. शोधार्थी, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान, भारत

surabhi.goswami50989@gmail.com ,

2. सहायक प्रोफेसर, समाजशास्त्र विभाग, वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान, भारत

सारांश: यह शोध-पत्र भारतीय समाज में समलैंगिकता को लेकर व्याप्त सामाजिक दृष्टिकोण और धारा 377 के कानूनी प्रभावों का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। औपनिवेशिक काल में लागू की गई इस धारा ने वयस्कों के बीच सहमति से स्थापित समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी में डालकर LGBTQIA+ समुदाय को लंबे समय तक संवैधानिक अधिकारों से वंचित रखा। न्यायपालिका द्वारा समय-समय पर दिए गए निर्णयों, विशेष रूप से 2018 के ऐतिहासिक नवतेज जोहर वाद, ने इस धारा को असंवैधानिक ठहराकर समलैंगिक व्यक्तियों की गरिमा, निजता और समानता के अधिकारों की पुनः स्थापना की। यह शोध सामाजिक, विधिक और सांस्कृतिक स्तरों पर धारा 377 के प्रभावों को समझने का प्रयास करता है तथा समलैंगिकता को एक मानवीय यथार्थ और संवैधानिक विषय के रूप में स्थापित करता है।

मुख्य शब्द: समलैंगिकता, धारा 377, LGBTQIA+, संवैधानिक अधिकार, न्यायिक निर्णय, सामाजिक दृष्टिकोण

----- X -----

प्रस्तावना

समाज में लैंगिक विविधताओं की स्वीकृति और समझ आधुनिक मानवाधिकार विमर्श का एक अनिवार्य हिस्सा बन चुकी है। समलैंगिकता, जिसे लंबे समय तक अपराध, पाप या विकृति के रूप में देखा गया, अब वैश्विक स्तर पर एक मानवीय पहचान के रूप में मान्यता प्राप्त कर रही है। भारत जैसे पारंपरिक समाज में यह विषय अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक और कानूनी परतों से घिरा हुआ है, जहां एक ओर व्यक्ति की लैंगिक अभिव्यक्ति को मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार करने की संवैधानिक कोशिशें हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक सोच में अभी भी विरोध, अस्वीकृति और कलंक की गूंज है। भारतीय दंड संहिता की धारा 377, जो लंबे समय तक समलैंगिक संबंधों को अपराध की श्रेणी में रखती रही, न केवल कानून का विषय थी, बल्कि उस सामाजिक नैतिकता का भी प्रतीक थी जो समलैंगिकता को अस्वीकार्य मानती रही। इस शोध-पत्र में समलैंगिकता की अवधारणा, उसकी समाजशास्त्रीय व्याख्या और धारा 377 के कानूनी विकासक्रम के माध्यम से इस विषय का बहुआयामी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। उद्देश्य यह है कि भारतीय समाज में समलैंगिक पहचान की स्वीकृति और अधिकारों की स्थिति को एक गंभीर, सैद्धांतिक और समकालीन दृष्टि से समझा जा सके।

समलैंगिकता: अवधारणा एवं परिप्रेक्ष्य

समलैंगिकता एक लैंगिक झुकाव है, जिसमें व्यक्ति का आकर्षण अपने ही लिंग के व्यक्तियों की ओर होता है। पुरुषों में इसे 'गे' तथा महिलाओं में 'लेस्बियन' कहा जाता है। यह झुकाव केवल यौन स्तर पर सीमित नहीं होता, बल्कि भावनात्मक, मानसिक और सामाजिक संबंधों में भी परिलक्षित होता है। यह झुकाव जन्मजात हो सकता है या विकासात्मक अनुभवों के आधार पर भी आकार ले सकता है, और यह लैंगिक पहचान से भिन्न होता है। समलैंगिकता को समझने के लिए आवश्यक है कि इसे केवल व्यवहार की दृष्टि से न देखा जाए, बल्कि व्यक्ति की अस्मिता, आत्म-स्वीकृति और समाज में उसके स्थान की दृष्टि से विश्लेषित किया जाए। विभिन्न मनोवैज्ञानिक, जैविक और समाजशास्त्रीय सिद्धांतों ने समलैंगिकता को अलग-अलग रूप में परिभाषित किया है कहीं इसे जैविक रुझान कहा गया, तो कहीं इसे सामाजिक लेबलिंग का परिणाम माना गया। समकालीन शोध इस मत को स्वीकार करता है कि समलैंगिकता कोई विचलन नहीं, बल्कि मानव लैंगिकता की स्वाभाविक विविधता है। भारत के सामाजिक ढांचे में समलैंगिकता को लंबे समय तक मौन, उपेक्षा और कलंक का विषय माना गया। पारिवारिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संरचनाओं ने समलैंगिक पहचान को आत्म-संकोच, डर और आत्म-गोपन की स्थिति में रखा। हालांकि, बीते दो दशकों में इस विषय पर न्यायपालिका, सामाजिक आंदोलनों और शिक्षा जगत के हस्तक्षेपों के कारण एक सकारात्मक विमर्श प्रारंभ हुआ है।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

समाजशास्त्र में समलैंगिकता को केवल एक व्यक्तिगत या जैविक अवस्था के रूप में नहीं देखा जाता, बल्कि यह समाज द्वारा निर्मित, परिभाषित और नियंत्रित की जाने वाली एक सामाजिक प्रक्रिया भी है। समाजशास्त्रीय सिद्धांत समलैंगिकता की समझ को व्यापक बनाते हैं और यह स्पष्ट करते हैं कि सामाजिक संस्थाएं, सांस्कृतिक मूल्य, और सामूहिक धारणाएं किसी भी लैंगिक व्यवहार को वैध या अवैध कैसे बनाती हैं।

लेबलिंग सिद्धांत

लेबलिंग सिद्धांत के अनुसार कोई भी व्यवहार स्वयं में विकृत नहीं होता, बल्कि समाज द्वारा लगाए गए “लेबल” उसे विचलन की श्रेणी में डालते हैं। समलैंगिकता को लंबे समय तक “अनैतिक” और “अस्वाभाविक” के रूप में लेबल किया गया, जिससे समलैंगिक व्यक्ति आत्मगोपन, अपराधबोध और सामाजिक अस्वीकृति का शिकार होते रहे। यह सिद्धांत इस बात की पड़ताल करता है कि किस प्रकार सत्ता-संपन्न सामाजिक समूह अपने नैतिक मानकों को ‘सामान्य’ घोषित कर, विविधताओं को “विकृति” करार देते हैं।

कलंक सिद्धांत

गॉफमैन के अनुसार, जब समाज किसी व्यक्ति की पहचान को “कलंकित” घोषित करता है, तो वह व्यक्ति न केवल सामाजिक दूरी का अनुभव करता है, बल्कि स्वयं अपनी अस्मिता को भी प्रश्नांकित करने लगता है। समलैंगिकों को भारतीय समाज में जिस प्रकार के सांस्कृतिक अपमान, उपहास, और चुप्पी का सामना करना पड़ता है, वह इस कलंक सिद्धांत के अंतर्गत विश्लेषण योग्य है।

संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण

यह दृष्टिकोण मानता है कि समाज में प्रत्येक संस्था और व्यवहार की एक विशिष्ट भूमिका होती है। समलैंगिकता को पारंपरिक परिवार संस्था के “विरोध” में रखा गया, क्योंकि यह प्रजनन और वंशवृद्धि जैसे सामाजिक उद्देश्यों को पूरा नहीं करता। इस कारण समलैंगिक संबंधों को “कार्यात्मक बाधा” की दृष्टि से देखा गया। हालांकि, यह विश्लेषण बदलते सामाजिक मूल्यों और वैकल्पिक परिवार संरचनाओं को नजरअंदाज कर देता है।

संघर्ष सिद्धांत

यह सिद्धांत समाज को वर्चस्व और प्रतिरोध के रूप में देखता है। समलैंगिकता पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून और नैतिकताएं, उस सत्ता की उपज मानी जाती हैं जो सामाजिक बहुलता के विरोध में एकल सांस्कृतिक धारणा को थोपती है। समलैंगिक अधिकारों का आंदोलन संघर्ष सिद्धांत के अनुरूप एक सत्ता-प्रतिरोधात्मक सामाजिक चेतना का प्रतीक है।

सामाजिक पहचान सिद्धांत

यह सिद्धांत बताता है कि व्यक्ति अपनी पहचान को समूहों से जोड़ता है। जब समलैंगिक समुदाय को अस्वीकार किया जाता है, तो उनकी “इन-ग्रुप” पहचान पर संकट आता है और वे सामाजिक बहिष्कार, आत्महीनता और मानसिक तनाव का अनुभव करते हैं।

भारतीय समाज में समलैंगिकता

भारत जैसे पारंपरिक और सांस्कृतिक रूप से बहुल समाज में समलैंगिकता की स्थिति बहुआयामी रही है। ऐतिहासिक रूप से देखें तो प्राचीन भारत में समलैंगिक व्यवहारों के अनेक प्रमाण मिलते हैं – चाहे वह खजुराहो के मंदिर हों, कामसूत्र में उल्लिखित रूप हों, या फिर लोक-कथाओं में उपस्थित विविध यौनिकता की स्वीकृति।

- **परिवार और समलैंगिकता**

भारतीय समाज में परिवार एक केंद्रीय संस्था है जो व्यक्ति की पहचान, विवाह, सामाजिक प्रतिष्ठा और उत्तराधिकार को नियंत्रित करता है। समलैंगिकता को इस पारिवारिक ढांचे में “विघटनकारी” माना गया, जिससे ऐसे व्यक्तियों को या तो जबरन विषमलैंगिक विवाह में बांधा गया या पूर्णतः बहिष्कृत किया गया।

- **धार्मिक दृष्टिकोण**

धार्मिक ग्रंथों और परंपराओं ने समलैंगिकता को लेकर मिश्रित संकेत दिए हैं। हिन्दू धर्म में जहां विविध यौन अभिव्यक्तियों की स्वीकृति रही है, वहीं आधुनिक धार्मिक व्याख्याओं ने समलैंगिकता को पाप या अपराध की दृष्टि से देखा। इस द्वंद्व ने समाज में भ्रम और विरोध को जन्म दिया।

- **शहरी बनाम ग्रामीण दृष्टिकोण**

शहरी क्षेत्रों में जहाँ शिक्षा, मीडिया और सामाजिक आंदोलनों की पहुँच अधिक है, वहाँ समलैंगिकता के प्रति जागरूकता और कुछ हद तक स्वीकृति देखी गई है। इसके विपरीत ग्रामीण क्षेत्रों में यह विषय आज भी वर्जना, अपमान और हिंसा से जुड़ा हुआ है।

- **मीडिया और साहित्य में समलैंगिकता का चित्रण**

बीते वर्षों में सिनेमा, वेब सीरीज़ और साहित्य में समलैंगिक पात्रों को अधिक संजीदगी से प्रस्तुत किया जा रहा है, जो समाज के दृष्टिकोण को प्रभावित कर रहा है। हालांकि, अभी भी अनेक प्रस्तुतियाँ सतही, अतिरंजित या व्यंग्यात्मक हैं, जो पूर्वाग्रह को और मज़बूत करती हैं।

- **शिक्षा और संस्थागत व्यवहार**

शैक्षणिक संस्थानों में समलैंगिक विद्यार्थियों को अभी भी खुलेपन, समर्थन और सुरक्षा का अनुभव नहीं होता। कक्षाओं में यौनिकता से जुड़े विषयों पर चुप्पी, शिक्षकों की असहजता, और साथियों की उपेक्षा उन्हें हाशिए पर ढकेलती है।

भारतीय कानून और धारा 377 का इतिहास

भारतीय दंड संहिता की धारा 377, जिसे 1861 में अंग्रेजों द्वारा लागू किया गया था, भारतीय कानून में समलैंगिकता के प्रति दमनकारी रुख का प्रतीक बन गई। यह कानून अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन की नैतिकता का प्रतिबिंब था, जिसमें “प्राकृतिक व्यवस्था के विरुद्ध यौन संबंधों” को अपराध की श्रेणी में रखा गया। धारा 377 कहती थी- जो कोई व्यक्ति स्वेच्छा से किसी पुरुष, स्त्री या पशु के साथ प्रकृति की व्यवस्था के विरुद्ध यौनाचार करता है, वह आजीवन कारावास या दस वर्ष तक की कारावास तथा जुर्माने से दंडनीय होगा। इस धारा का उपयोग मुख्यतः समलैंगिक पुरुषों के विरुद्ध किया गया, भले ही वे संबंध सहमति और निजता के दायरे में आते हों। यह कानून व्यक्ति की यौनिक स्वतंत्रता, निजता और अभिव्यक्ति के अधिकारों पर सीधा हस्तक्षेप करता था। औपनिवेशिक काल में यह कानून ब्रिटिश विक्टोरियन नैतिकता का हिस्सा था, जिसका उद्देश्य समाज में यौनिक नियंत्रण स्थापित करना था। भारत में इसे स्वतंत्रता के बाद भी बरकरार रखा गया, जबकि स्वयं ब्रिटेन ने 1967 में समलैंगिक संबंधों को वैध बना दिया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में इस कानून का प्रयोग केवल विधिक कारणों से नहीं, बल्कि सामाजिक सोच के अनुरूप भी होता रहा। इस कानून ने केवल समलैंगिक संबंधों को ही नहीं, बल्कि LGBTQIA+ समुदाय की समस्त लैंगिक अभिव्यक्तियों को अपराधबोध और अपराध के दायरे में ला दिया। धारा 377 के अंतर्गत पुलिस द्वारा उत्पीड़न, डराकर वसूली, और सामाजिक बदनामी का भय आम था, जिससे समुदाय के लोग न्याय व्यवस्था से दूर हो जाते थे।

न्यायिक हस्तक्षेप और प्रमुख निर्णय

समलैंगिकता पर आधारित भेदभाव के विरुद्ध भारत की न्यायपालिका ने धीरे-धीरे एक प्रगतिशील रुख अपनाया। यह परिवर्तन अनेक ऐतिहासिक मुकदमों और जनहित याचिकाओं के माध्यम से सामने आया-

- **नाज़ फाउंडेशन बनाम भारत सरकार (2009)**

2001 में Naz Foundation, एक गैर-सरकारी संगठन, ने दिल्ली उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर धारा 377 की संवैधानिकता को चुनौती दी। 2 जुलाई 2009 को दिल्ली उच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए कहा कि दो वयस्कों के बीच सहमति से स्थापित समलैंगिक संबंधों को अपराध नहीं माना जा सकता। न्यायालय ने अनुच्छेद 14 (समानता), 15 (भेदभाव से मुक्ति), 19 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता) और 21 (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता) को आधार बनाकर धारा 377 को आंशिक रूप से असंवैधानिक घोषित किया।

- **सुरेश कुमार कौशल बनाम नाज़ फाउंडेशन (2013)**

यह निर्णय समलैंगिक अधिकारों के लिए एक बड़ा झटका था। 2013 में सुप्रीम कोर्ट ने दिल्ली हाईकोर्ट के फैसले को पलटते हुए कहा कि धारा 377 असंवैधानिक नहीं है, और इसे हटाने या संशोधित करने की शक्ति केवल संसद के पास है। इस निर्णय में LGBTQIA+ समुदाय को "मामूली संख्या" का समूह कहकर उनके अधिकारों को गौण किया गया, जिससे व्यापक आलोचना हुई। यह फैसला कानूनी रूप से पुनरुत्थानवादी और नैतिक दृष्टिकोण से संकुचित माना गया।

- **नवतेज सिंह जोहर बनाम भारत सरकार (2018)**

इस मामले में पांच समलैंगिक याचिकाकर्ताओं ने पुनः सुप्रीम कोर्ट का दरवाज़ा खटखटाया। 6 सितम्बर 2018 को सुप्रीम कोर्ट की पांच न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से फैसला सुनाया कि धारा 377 का वह भाग जो दो वयस्कों के बीच सहमति से स्थापित समलैंगिक संबंधों को अपराध घोषित करता है, असंवैधानिक है। मुख्य बिंदु- किसी की यौनिकता उसकी आत्म-पहचान का हिस्सा है, और उसका सम्मान किया जाना चाहिए। LGBTQIA+ समुदाय भी समान सम्मान, गरिमा और संवैधानिक संरक्षण का हकदार है। यह निर्णय भारतीय संविधान के मानव गरिमा, समानता और स्वतंत्रता के मूल्यों की पुनःस्थापना था। न्यायालय ने LGBTQIA+ समुदाय को "पूर्ण नागरिक" मानते हुए उन्हें आत्म-सम्मान के साथ जीवन जीने का अधिकार दिया।

धारा 377 हटने के सामाजिक प्रभाव

2018 में सुप्रीम कोर्ट द्वारा धारा 377 को आंशिक रूप से असंवैधानिक घोषित किए जाने के बाद भारत में समलैंगिक समुदाय के लिए सामाजिक स्वीकृति की दिशा में एक नया अध्याय प्रारंभ हुआ। यह निर्णय केवल एक कानूनी बदलाव नहीं था, बल्कि समाज के नैतिक ढाँचे, सार्वजनिक दृष्टिकोण और सांस्कृतिक विमर्श में भी परिवर्तन का संकेत था।

- **आत्मस्वीकृति और आत्मविश्वास में वृद्धि**

अब LGBTQ+ समुदाय के अनेक सदस्य सार्वजनिक रूप से अपनी यौनिक पहचान व्यक्त करने लगे हैं। सोशल मीडिया, रैलियों और मंचों पर उनकी भागीदारी पहले से अधिक सक्रिय और मुखर हुई है। "Coming out" जैसी प्रक्रिया अब भय का विषय नहीं, बल्कि आत्मसम्मान का प्रतीक बन रही है।

- **परिवार और समुदाय की प्रतिक्रिया**

हालाँकि कानून ने समानता का रास्ता खोला है, लेकिन सामाजिक स्वीकृति अभी भी पूरी तरह विकसित नहीं हुई है। अनेक परिवार समलैंगिक सदस्यों को अस्वीकार कर देते हैं या उन्हें मानसिक दबाव में विषमलैंगिक विवाह की ओर धकेलते हैं। फिर भी कुछ शहरी, शिक्षित और जागरूक परिवारों में सहिष्णुता और स्वीकृति बढ़ती दिख रही है।

- **शिक्षा, कार्यस्थल और मीडिया में परिवर्तन**

कई विश्वविद्यालयों, कंपनियों और मीडिया संस्थानों ने अब समावेशी नीतियाँ बनानी शुरू की हैं। जेंडर-नॉनकनफॉर्मिंग लोगों के लिए विशिष्ट हेल्पलाइन, काउंसलिंग सेंटर और HR पॉलिसियाँ लागू हो रही हैं। साथ ही, फिल्मों और वेब सीरीज़ में LGBTQIA+

किरदार अधिक यथार्थवादी और गरिमापूर्ण रूप में सामने आ रहे हैं।

- **मानसिक स्वास्थ्य और आत्मसम्मान पर असर**

जहाँ पहले समलैंगिक व्यक्ति मानसिक अवसाद, आत्मगोपन और आत्महत्या जैसी समस्याओं से जूझते थे, वहीं अब परामर्श और सहयोग की सुविधाएँ बढ़ रही हैं। इससे मानसिक स्वास्थ्य की दिशा में सुधार देखा गया है।

- **वर्तमान स्थिति और चुनौतियाँ**

कानूनी मान्यता मिलने के बावजूद सामाजिक धरातल पर LGBTQIA+ समुदाय को अभी भी कई स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है।

- **भेदभाव और हिंसा का डर**

अभी भी कई लोग अपने कार्यस्थल, स्कूल, या मोहल्ले में अपनी पहचान छिपाकर जीने को मजबूर हैं। समलैंगिकों के खिलाफ हिंसा, धमकी, और पुलिस द्वारा उत्पीड़न की घटनाएँ कम नहीं हुई हैं। विशेष रूप से ग्रामीण और निम्न आयु वर्ग में यह समस्या अधिक गंभीर है।

- **कानूनी अस्पष्टता और अधिकारों की सीमाएँ**

धारा 377 हटने से केवल आपसी सहमति से बने समलैंगिक संबंध अपराध नहीं रहे, परंतु विवाह, गोद लेना, उत्तराधिकार, मेडिकल प्रतिनिधित्व जैसे नागरिक अधिकार अब भी स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं हैं। न ही संविधान में 'सेक्सुअल ओरिएंटेशन' को भेदभाव के आधार के रूप में अभी तक जोड़ा गया है।

- **राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी**

वर्तमान सरकारों द्वारा LGBTQIA+ अधिकारों को प्राथमिकता दिए जाने के संकेत सीमित हैं। नीति निर्धारण, पुलिस प्रशिक्षण, और शिक्षा पाठ्यक्रमों में यौनिक विविधता का समावेश अभी भी धीमा और सतही है।

- **धार्मिक और पारंपरिक विरोध**

कई धार्मिक समूह अब भी समलैंगिकता को "पाप", "विकृति" या "पश्चिमी प्रभाव" मानते हैं। यह विरोध केवल वैचारिक नहीं, बल्कि सामुदायिक असहिष्णुता का कारण भी बनता है। सामाजिक सम्मान, विवाहिक स्वीकृति, और धार्मिक समारोहों में भागीदारी जैसे बुनियादी सामाजिक अधिकार अब भी सशर्त हैं।

तुलनात्मक अध्ययन: भारत बनाम अन्य देश

भारत में LGBTQIA+ अधिकारों की स्थिति को समझने के लिए अंतरराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य से तुलना करना अत्यंत उपयोगी है। अमेरिका और कनाडा जैसे देशों ने समलैंगिक विवाह, गोद लेने का अधिकार, एंटी-डिस्क्रिमिनेशन कानून और ट्रांसजेंडर अधिकारों के क्षेत्रों में काफी प्रगति की है। अमेरिका में 2015 में समलैंगिक विवाह को वैध कर दिया गया, जबकि कनाडा ने इसे 2005 में ही मान्यता दे दी थी।

दक्षिण अफ्रीका पहला अफ्रीकी देश है जिसने समलैंगिक विवाह को कानूनी मान्यता दी और अपने संविधान में यौनिक अभिव्यक्ति को भेदभाव-विरोधी अधिकार के रूप में सम्मिलित किया। यह एक उन्नत संवैधानिक उदाहरण है, जहाँ कानून के साथ-साथ सामाजिक शिक्षा और समानता का प्रयास भी साथ चला। एशियाई परिप्रेक्ष्य में भारत की तुलना में चीन, मलेशिया, इंडोनेशिया जैसे देशों में समलैंगिकता पर अब भी प्रतिबंध या सामाजिक दमन अधिक है। वहीं, नेपाल ने समलैंगिक अधिकारों के संदर्भ में कुछ प्रगतिशील निर्णय लिए हैं। भारत ने धारा 377 हटाकर एक ऐतिहासिक पहल की, लेकिन आगे का रास्ता लंबा है। पश्चिमी देशों की तुलना में सामाजिक स्वीकार्यता, प्रशासनिक सुधार और विधायी प्रतिबद्धता में अभी भी स्पष्ट अंतर बना हुआ है।

निष्कर्ष

भारत में समलैंगिकता और उससे जुड़े अधिकारों का विषय केवल एक यौनिक प्रवृत्ति का मामला नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति की पहचान, उसकी गरिमा, स्वतंत्रता और सामाजिक स्वीकृति से सीधे जुड़ा हुआ प्रश्न है। धारा 377, जो ब्रिटिश औपनिवेशिक नैतिकता की उपज थी, ने सदियों तक समलैंगिक व्यक्तियों के जीवन को अपराधबोध, भय और सामाजिक बहिष्कार की स्थिति में रखा। 2018 में इसे आंशिक रूप से असंवैधानिक घोषित कर दिया जाना इस संघर्ष का महत्वपूर्ण मोड़ था, जो न्यायपालिका की संवेदनशीलता, सामाजिक आंदोलनों की निरंतरता, और बदलते संवैधानिक विमर्श का परिणाम था। इस शोध में समलैंगिकता को समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और कानूनी दृष्टिकोणों से विश्लेषित किया गया। यह स्पष्ट हुआ कि समलैंगिक व्यक्ति समाज के अन्य नागरिकों की तरह समान गरिमा और अधिकारों के हकदार हैं। न्यायपालिका की भूमिका इस दिशा में विशेष रूप से सराहनीय रही है, जिसने संविधान की मूल भावना को आधार बनाकर समलैंगिकता को अपराध की श्रेणी से मुक्त किया। हालांकि, केवल कानूनी मान्यता पर्याप्त नहीं है। सामाजिक मानसिकता, पारिवारिक स्वीकृति, शिक्षा प्रणाली, और राजनीतिक इच्छाशक्ति जैसे आयामों में अभी भी गहरी खाई बनी हुई है। भारत में LGBTQIA+ समुदाय को आज भी कार्यस्थलों, शैक्षिक संस्थानों, और सामाजिक आयोजनों में भेदभाव का सामना करना पड़ता है। इसके साथ-साथ विवाह, गोद लेने, उत्तराधिकार और सामाजिक सुरक्षा जैसे अधिकारों की भी अभी स्पष्ट व्यवस्था नहीं है। समलैंगिकता को लेकर समाज में व्याप्त भ्रांतियों, धार्मिक रुढ़ियों और सांस्कृतिक असहिष्णुता को तोड़ने के लिए केवल विधायी प्रयास ही नहीं, बल्कि नैतिक, शैक्षिक और जनसंचार माध्यमों के स्तर पर भी सतत कार्य करने की आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों में यौनिकता के विषय पर वैज्ञानिक और समावेशी संवाद को बढ़ावा दिया जाए, ताकि आने वाली पीढ़ियाँ विविधता को असामान्यता नहीं, बल्कि मानवीय यथार्थ मान सकें। अंततः यह कहा जा सकता है कि समलैंगिकता को न तो अपराध की दृष्टि से देखा जाना चाहिए और न ही एक सामाजिक कलंक के रूप में। यह मानवीय विविधता का स्वाभाविक हिस्सा है, जिसे सम्मान, संवैधानिक संरक्षण और सामाजिक स्वीकृति मिलना अत्यंत आवश्यक है। धारा 377 का हटना एक ऐतिहासिक शुरुआत है, परंतु एक समावेशी और समानतावादी समाज के निर्माण के लिए यह केवल पहला कदम है। जब तक समाज समलैंगिक व्यक्तियों को उसी सहजता, गरिमा और अवसर के साथ स्वीकार नहीं करता, तब तक यह संघर्ष जारी रहेगा।

संदर्भ

1. भास्करन, एस. (2004). मेड इन इंडिया: उपनिवेश-मुक्तिकरण, क्वीयर यौनिकताएँ और ट्रांस/राष्ट्रीय परियोजनाएँ. पालग्रेव मैकमिलन.
2. नर्रेन, अ., एवं भान, जी. (2005). क्योंकि मेरी भी एक आवाज़ है: भारत में क्वीयर राजनीति. योड़ा प्रेस.
3. गुप्ता, ए. (2006). धारा 377 और भारतीय समलैंगिकों की गरिमा. आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक, 41(46), 4815–4823.
4. भारत का उच्चतम न्यायालय. (2018). नवतेज सिंह जौहर एवं अन्य बनाम भारत संघ, रिट याचिका (आपराधिक) सं. 76/2016.
5. वनीता, र., एवं किदवई, एस. (2001). भारत में समलैंगिक प्रेम: साहित्य और इतिहास से पाठ. पालग्रेव मैकमिलन.
6. इंटरनेशनल कमीशन ऑफ़ जुरिस्ट्स. (2019). यौनिक अभिविन्यास, लैंगिक पहचान और न्याय: तुलनात्मक विधिक नज़ीरों का एक केसबुक.
7. गॉफ़मैन, ई. (1963). कलंक: बिगड़ी हुई पहचान के प्रबंधन पर टिप्पणियाँ. साइमन एंड शूस्टर.